आदिवासी लोक चित्रकला को देखने का बदलना होगा नजरिया

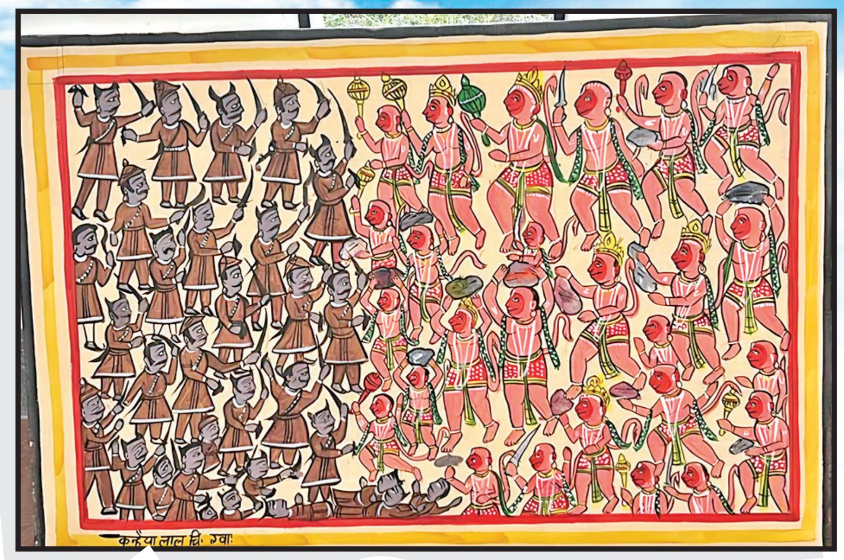

यह भी एक रोचक तथ्य है कि जिस प्रकार नगर कला पिछली सदियों में अनेक कला आंदोलनों एवं वैचारिक द्वंद्वों से गुजरती हुई अपने समकालीन रूप तक पहुंची है, इसी प्रकार लोक–आदिवासी कला भी अनेक धार्मिक–सामाजिक परिस्थितियों से गुजरती हुई अपने वर्तमान रूप तक पहुंची है। डब्ल्यूजी आर्चर, वेरीयर एल्विन एवं अन्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए गए पश्चिम बंगाल के पटुआ पटचित्र, ओडिशा के जात्री पटचित्र, महाराष्ट्र के चित्रकथी पोथी चित्र, सौंरा आदिवासियों के इडीतल भित्ति चित्र एवं बिहार के मधुबनी के भित्तिचित्र आदि के जो पुराने नमूने हैं, वे उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध अथवा बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों के हैं। इनका स्वरूप वर्तमान में इन्हीं शैलियों के प्रचलित लोक चित्रों से बहुत भिन्न है।

मुश्ताक खान
लेखक, नई दिल्ली

आदिवासी लोक चित्रकला का व्यवसायीकरण– आदिवासी लोक चित्रों का एक रूप सन् 1960 के दशक में तब सामने आया, जब पारंपरिक लोक-आदिवासी चित्रकला के व्यवसायीकरण के प्रयास आरंभ हुए। उस समय पहली बार आदिवासी लोक चित्रकला में बाहरी विद्वानों द्वारा वैचारिक हस्तक्षेप आरंभ हुआ। पारंपरिक लोक चित्रकारों को यह समझाया गया कि उन्हें दीवार के बजाय कागज पर चित्रकारी करनी है तथा नए विषयों को सीमित आकार में चित्रित करने का प्रयास करना है। कुछ ही समय में सामग्री और तकनीक भी बदलवाई गई। इन प्रयासों के साथ ही पारंपरिक आदिवासी लोक चित्रकला के स्वरूप में बड़ी तेजी से परिवर्तन हुए। इससे पहले तक इसमें सामूहिकता एवं परंपरा के निर्वाह और उसकी पवित्रता तथा परिशुद्धता का महत्व सर्वोपरि था। लोक चित्रकार की व्यक्तिगत प्रतिभा और कल्पनाशीलता का स्थान गौण था। लोक चित्रकार की हेसियत पिंजरे में बंद पक्षी जैसी थी, परंतु अब उसे अपने पर खोलने के लिए प्रेरित किया जा रहा था।

सन 1960 के दशक तक की आदिवासी लोक चित्रकला को मैंने कुछ इस तरह समझा-अपने परंपरागत स्वरूप में आदिवासी लोक चित्रकला क्षेत्र विशेष या समुदाय विशेष के जन-सामान्य द्वारा किया गया वह कलाकर्म है, जिसके मूल में शुभ का विचार होता है और जो अवसर विशेष से जुड़े अनुष्ठान एवं मान्यताओं को संपन्न करने हेतु किया जाता है। मूलतः यह कलाकर्म आजीविका कमाने हेतु नहीं, बल्कि अपने जीवन को प्रचलित विश्वासों और मान्यताओं के अनुरूप सुख एवं शांतिमय बनाने हेतु पारलौकिक शक्तियों से आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए किया जाता है। यह चित्र मानव का देवी-देवताओं को संबोधन है। यह चित्रित प्रार्थनाएं हैं, जिनके माध्यम से वे इस लोक एवं परलोक के मध्य संवाद स्थापित करते हैं। अपने इष्ट देवी-देवताओं का आह्वान करते हैं, उन्हें जाग्रत करते हैं, उन्हें शांत करते हैं, उनका धन्यवाद ज्ञापन करते हैं और उनकी आराधना करते हैं। यह चित्र मात्र प्रदर्शन की वस्तु नहीं, बल्कि आदिवासी-लोक जीवन का महत्वपूर्ण अंग हैं।

पारंपरिक परिभाषा पर उठते प्रश्न

वर्तमान में, इक्कीसवीं सदी के परिवेश में प्रचलित आदिवासी लोक चित्रकला को क्या उसकी इस परिभाषा अथवा उसके प्रति इस पारंपरिक सोच से व्याख्यायित किया जा सकता है? मेरे लिए यह एक विचारणीय प्रश्न है। क्या हमें अब प्रचलित आदिवासी लोक चित्रकला के समकालीन रूप को नए सिरे से समझने और परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं है? आदिवासी लोक चित्रकला का एक बड़ा भाग जो वर्तमान में शहरी कला बाजारों अथवा प्रदर्शनियों तथा इंटरनेट पर दिखाई देता है, वह उपरोक्त पारंपरिक परिभाषा से बहुत आगे जा चुका है। अब इन्हें बनाने के लिए न तो किसी विशेष अवसर की आवश्यकता है, न अनुष्ठान, त्योहार की और न ही इनके द्वारा किसी देव का आह्वान किया जाता है और न ही शमन। यह चित्र अपने पारंपरिक सामाजिक संदर्भ अथवा उत्तरदायित्व से मुक्त होकर केवल सौंदर्य सृजन एवं अर्थोपार्जन का माध्यम बन चुके हैं। ऐसा भी नहीं है कि समूचा परिदृश्य बदल गया हो, आज भी आंतरिक ग्रामीण अंचलों में कहीं–न–कहीं यह चित्र अपनी पारंपरिक पहचान और कलेवर बनाए हुए हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि लोककला की स्थिति अब बदल चुकी है।

शहरी कला बाजार और चित्रों का नया स्वरूप

आदिवासी लोक चित्रों के इस समकालीन समूह में वे सभी चित्र सम्मिलित हैं, जिनका प्रचलन पारंपरिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु नहीं, बल्कि शहरी बाजारों में विक्रय हेतु बनाए जाने के साथ विकसित हुआ है। यह चित्र आदिवासी–लोक कलाकारों के परंपरा–सिंचित सौंदर्यबोध एवं उनकी व्यक्तिगत कला प्रतिभा की अभिव्यक्तियां हैं। इन चित्रों ने आदिवासी–लोक कलाकारों के लिए नई संभावनाओं के द्वार खोल दिए हैं एवं आदिवासी–लोक कला को एक भिन्न धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया है। सामान्यत: आदिवासी–लोक चित्रकला को हम इनकी परंपरा के परिप्रेक्ष्य में ही देखते रहे हैं। रूपंकर कलाओं के संदर्भ में परंपरा का आशय केवल प्रचलित चित्रभाषा, अभिप्राय, प्रतीक, छवियां, रूपाकार, शैली आदि की पुनरावृत्ति तक सीमित नहीं रहता बल्कि इनमें सतत प्रवाहित जनचेतना का भी अपना महत्व है, जो इन्हें बदलते परिवेश में भी अपने मूल से जोड़े रखती है। इस समूचे परिदृश्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आदिवासी–लोक समाजों में कलाकारों का योगदान यही है कि वे इन परंपरागत कलाकृतियों को अपनी कलात्मक प्रतिभा से समकालीन रूप तथा महत्व प्रदान करते हैं।

मौलिक कला प्रतिभा और शिल्प कौशल

आदिवासी लोक कला के व्यवसायीकरण की प्रक्रिया का एक परिणाम यह हुआ कि अब तक सामुदायिक अथवा सामूहिक समझी जाने वाली आदिवासी लोक कलाओं में कलाकारों के काम को व्यक्तिगत पहचान मिलना आरंभ हुआ। कलाकारों को अपनी सामुदायिक कला परंपरा के प्रतिनिधि के साथ–साथ एक निजी पहचान भी मिली। सामूहिक कलाकर्म में व्यक्ति का उदय हुआ। पारंपरिक ढर्रे पर कलाकर्म करते हुए कलाकार की व्यक्तिगत कला प्रतिभा को पहचान मिली, लेकिन आदिवासी लोक कलाकारों की यह यात्रा इतनी आसान नहीं रही। बदलते परिवेश में उनके कलाकर्म का उद्देश्य ही बदल रहा था। अब उन्हें अपने पारंपरिक चित्रों में धार्मिक–सामाजिक विश्वासों के अनुरूप पवित्रता नहीं बनाए रखनी थी, बल्कि उन्हें अपनी पारंपरिक शैलीगत पहचान बनाए रखते हुए निजी मौलिक कला प्रतिभा और शिल्प कौशल को व्यक्त करना था। अब वे समुदाय से निकलकर कला के बाज़ार में प्रवेश कर गए थे। उन्हें अब अपनी कल्पना को विस्तार देना था और नए–नए विषयों पर चित्रों का सृजन करना था। आदिवासी लोक कला को देखने का एक अलग नजरिया मिला सन् 1980 में, जब मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में भारत भवन की स्थापना के साथ एक नए कला आंदोलन ने जन्म लिया। प्रसिद्ध चित्रकार एवं कलाचिंतक जगदीश स्वामीनाथन के मार्गदर्शन में यह एक ऐसा कला आंदोलन था, जो शहरी समकालीन और ग्रामीण आदिवासी लोक कला को एक साथ भारतीय समकालीन कला के दो अभिन्न अंग मानता था। यहां आदिवासी लोककला भी उतनी ही महत्वपूर्ण थी, जितनी शहरी आधुनिक कला। यहां परंपरा का अर्थ केवल पुनरावृत्ति नहीं, बल्कि उसमें निजता और नवीनता का सहज स्वीकार था।

असीम संभावनाएं

परिणामस्वरूप पारंपरिक आदिवासी लोक कला पर पारंपरिक पवित्रता के आग्रह की जकड़ कम होने से आदिवासी लोक कलाकारों को चित्र सृजन में उसका कथ्य और रूप कल्पित करने में अपेक्षाकृत स्वतंत्रता मिलने लगी। परंतु उन पर यह जिम्मेदारी भी आ पड़ी कि वे अभिव्यक्ति की इस स्वतंत्रता को उसी सीमा तक ले जाएं, जहां तक उनकी पारंपरिक शैलीगत पहचान विलुप्त न होने पाए। भले ही आदिवासी लोक कलाकारों को अपनी–अपनी समुदायगत विरासत में मिली परंपरा ने उन्हें कृति सृजन के लिए समान विषयवस्तु प्रदान की है या उनका सौंदर्यबोध एक ही परंपरा द्वारा सिंचित है। परंतु उनकी व्यक्तिगत कल्पनाशीलता, रंग और रूप के प्रति सहज प्रतिक्रिया, कलाकार की निजी संवेदना आदि अनेक तत्व हैं, जो उनके कलाकर्म को न केवल प्रभावित करते हैं, बल्कि उसे विशिष्टता भी प्रदान करते हैं। तब एक पारंपरिक निश्चित दायरे में काम करते हुए भी असीम संभावनाएं उभरकर सामने आती हैं, जो इन कलाकृतियों में आदिवासी लोक कलाकारों की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति को रेखांकित करती हैं। आज अनेक आदिवासी लोक चित्रकारों ने अपनी चित्रकला की परंपरागत पहचान बनाए रखते हुए भी, अपनी व्यक्तिगत सृजनशीलता से इस पारंपरिक कला में नए आयाम जोड़े हैं, अपनी पहचान बनाई है। अत: हमें भी समकालीन आदिवासी लोक कला को देखने और समझने के नजरिये में वांछित बदलाव की जरूरत है।

अनोखी परंपरा

नमक मांगना भी बन सकता है मुसीबत

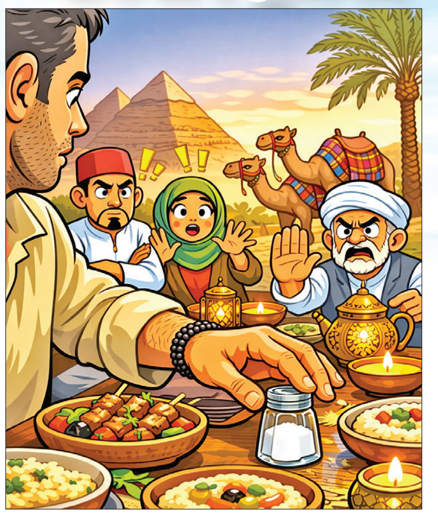

दुनिया के हर देश की अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान होती है, जो वहां के रीति–रिवाजों और सामाजिक व्यवहार में साफ झलकती है। ये परंपराएं पीढ़ी दर पीढ़ी चली आती हैं और स्थानीय लोगों के जीवन का अभिन्न हिस्सा बन जाती हैं। कई बार बाहरी लोग अनजाने में इन परंपराओं का उल्लंघन कर बैठते हैं, जिससे वे असहज या मुश्किल स्थिति में फंस सकते हैं। ऐसा ही एक अनोखा सामाजिक नियम मिस्र में देखने को मिलता है, जहां भोजन करते समय अलग से नमक मांगना अपमान माना जाता है।

मिस्र की संस्कृति में भोजन केवल पेट भरने का साधन नहीं, बल्कि सम्मान, आतिथ्य और आपसी संबंधों का प्रतीक है। जब कोई मेजबान अपने अतिथि के लिए भोजन तैयार करता है, तो वह उसे पूरे मन और मेहनत से बनाता है। ऐसे में अगर अतिथि खाने के दौरान नमक मांग ले या पकवान में अतिरिक्त नमक डाल दे, तो इसे यह संकेत माना जाता है कि भोजन स्वादहीन है या मेजबान ने उसे ठीक से नहीं बनाया। यही कारण है कि नमक मांगना वहां मेजबान और भोजन— दोनों का अपमान समझा जाता है। अगर आप मिस्र में किसी के घर दावत पर जाते हैं, तो बेहतर यही होता है कि जो भोजन परोसा गया है, उसे उसी रूप में स्वीकार करें। चाहे स्वाद आपकी आदतों के अनुरूप न भी हो, फिर भी उसमें किसी तरह का बदलाव करना सामाजिक शिष्टाचार के विरुद्ध माना जाता है। वहां यह माना जाता है कि अतिथि का सम्मान इसी में है कि वह मेजबान के प्रयासों को बिना किसी टिप्पणी के स्वीकार करे।

यह परंपरा केवल घरों तक सीमित नहीं है। मिस्र के होटल और रेस्तरां में भी नमक मांगना लोगों को अटपटा लग सकता है। हालांकि कुछ जगहों पर टेबल पर सॉल्ट–स्प्रिंकलर रखा मिल जाता है, लेकिन स्थानीय लोग इसे शायद ही इस्तेमाल करते हैं। कई बार अगर कोई पर्यटक इसका उपयोग करता है, तो आसपास बैठे लोग हैरानी से उसे देखने लगते हैं। इसलिए मिस्र की यात्रा पर जाते समय वहां की इस सांस्कृतिक बारीकी को समझना बेहद ज़रूरी है। वहां भोजन के स्वाद से अधिक सम्मान, परंपरा और भावनाओं को महत्व दिया जाता है।

आर्ट गैलरी

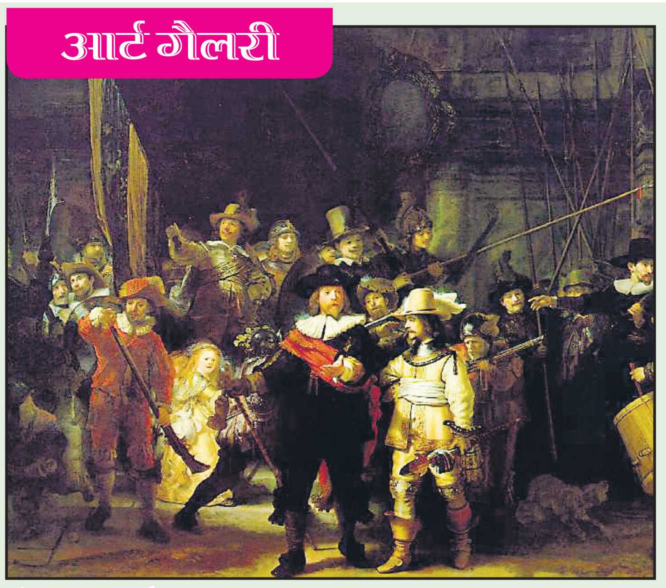

रेम्ब्रांट वैन रिजन की 'द नाइट वाच'

द नाइट वॉच रेम्ब्रांट वैन रिजन की सबसे मशहूर पेंटिंग्स में से एक है। इसे 1642 में डच गोल्डन एज के दौरान बनाया गया था। यह पेंटिंग कैप्टन फ्रांज बैनिंग कोक के नेतृत्व वाली एक कंपनी का ग्रुप पोर्ट्रेट है। यह पेंटिंग रोशनी और परछाई (टेनेब्रिज़्म) के नाटकीय इस्तेमाल और एक स्थिर सैन्य ग्रुप पोर्ट्रेट में गति के भ्रम के लिए जाना जाता है। 1808 में इस पेंटिंग को रिज्क्सम्यूजियम में ट्रांसफर कर दिया गया। वहां यह आज भी मौजूद है। इस पेंटिंग में 34 आकृतियां हैं, जिनमें वॉलंटियर गार्ड के सदस्य, एक झंडाबरदार, एक ड्रमर और एक छोटी लड़की शामिल हैं। चित्रित लोगों का मुख्य काम अपने शहरों में रक्षक के रूप में सेवा करना था। यह सत्रहवीं सदी की डच पेंटिंग का एक प्रतीक और खास उदाहरण बनी हुई है।

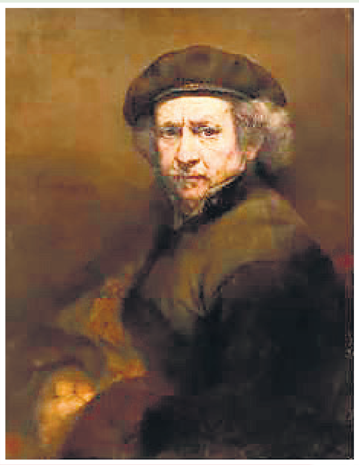

रिजन के बारे में

रेम्ब्रांट वैन रिजन एक डच चित्रकार थे। वह बारोक शैली में अपनी असाधारण कला के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने अपने पूरे करियर में धार्मिक और पौराणिक विषयों पर ध्यान केंद्रित किया और ऐसी उत्कृष्ट कृतियां बनाईं जिन्हें आज भी सराहा जाता है। उनका जन्म 1606 में हुआ और निधन 1669 में। रेम्ब्रांट की सबसे प्रसिद्ध कलाकृतियों में से एक 'द नाइट वॉच' है, जो प्रकाश और छाया पर उनकी महारत को दिखाती है। बारोक काल के चित्रकार रेम्ब्रांट ने कैरावैगियो जैसे इतालवी मास्टर्स से प्रेरणा ली। चियारोस्क्यूरो का उपयोग नाटकीय दृश्य बनाने के लिए प्रकाश और अंधेरे का कंट्रास्ट उनके काम की एक खास विशेषता बन गई। यह तकनीक न केवल 'द नाइट वॉच' में, बल्कि 'द एनाटॉमी लेसन ऑफ डॉ. निकोलेस टल्प' जैसी अन्य उल्लेखनीय पेंटिंग्स में भी देखी जा सकती है। अपनी कलात्मक प्रतिभा के लिए सराहे जाने के अलावा, रेम्ब्रांट का डच सांस्कृतिक विरासत में भी एक महत्वपूर्ण स्थान है।

लोकायन

तमाशा : जीवंत लोक-नाट्य परंपरा

तमाशा लोक नृत्य और नाट्य प्रस्तुति का एक विशिष्ट रूप है, जिसकी उत्पत्ति 16वीं शताब्दी के आरंभ में महाराष्ट्र में मानी जाती है। अपने आरंभिक दौर से लेकर आज तक तमाशा न केवल महाराष्ट्र, बल्कि भारत के सबसे लोकप्रिय और जीवंत लोक कला रूपों में गिना जाता है। यह लोकनाट्य संगीत, नृत्य, अभिनय और कविता का ऐसा संगम है, जो जनसाधारण की भावनाओं को सीधे अभिव्यक्त करता है।

तमाशा की प्रस्तुति में गायन और नृत्य के साथ कई पारंपरिक वाद्ययंत्रों का प्रयोग किया जाता है। इनमें ढोलकी, तुनतुनी (एक तार वाला वाद्ययंत्र), मंजीरा, डफ, हल्गी, कड़े नामक धातु का त्रिकोण, लेजिम, हारमोनियम और गुंघरू प्रमुख हैं। ढोलकी और हल्गी की सशक्त ताल तमाशा की पहचान मानी जाती है, जो पूरी प्रस्तुति को ऊर्जा और लय प्रदान करती है।

तमाशा का गहरा संबंध महाराष्ट्र के कोल्हाटी और महार समुदायों से रहा है। इन समुदायों द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस कला को जीवित रखा गया। तमाशा का इतिहास अन्य मराठी लोक कलाओं से भिन्न है, क्योंकि इसमें लोककथाओं, कविता और नाट्य का अनूठा मिश्रण देखने को मिलता है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में नृत्य और संगीत की परंपरा का प्रभाव तमाशा में स्पष्ट रूप से झलकता है।

मराठी लोक साहित्य पर संस्कृत साहित्य का गहरा प्रभाव भी इसकी रचनात्मकता को समृद्ध करता है।

राम जोशी (1762-1812) को तमाशा का जनक माना जाता है। वे संस्कृत पुराणों, कीर्तन और नाट्य गायन के लिए प्रसिद्ध थे। बाद में मराठी साहित्यकार मोरोपंत के साथ उनके जुड़ाव ने तमाशा को नई दिशा दी। 'शाहिर' कहलाने वाले कवि-गायक रवानी ने तमाशा के लिए अनेक प्रेम और लोकगीतों की रचना की, जिससे यह कला और अधिक लोकप्रिय हुई। तमाशा के दो अन्य रूपों-पारंपरिक पड़ा गायन और दशावतार नाट्य रूप का भी उल्लेख मिलता है। यह कला महाराष्ट्र के साथ-साथ कर्नाटक, गोवा और कोंकण क्षेत्रों में भी प्रचलित है। तमाशा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके लिए किसी विशेष मंच की आवश्यकता नहीं होती। गांव का चौक, घर का आंगन या खुला मैदान-हर स्थान इसका रंगमंच बन सकता है। संगीतकारों के प्रवेश से आरंभ होने वाला तमाशा आज भी लोक-संस्कृति की जीवंत धड़कन बना हुआ है।

भारतीय कला शिक्षा, लोक परंपरा और समकालीन कला

यह लगभग निर्विवाद तथ्य है कि भारत में आज भी जिस औपचारिक कला शिक्षा पद्धति का अनुसरण किया जा रहा है, उसकी जड़ें औपनिवेशिक काल में स्थापित ब्रिटिश मॉडल में निहित हैं। जबकि आज यह स्पष्ट हो चला है कि मद्रास, कलकत्ता, बॉम्बे और लाहौर जैसे कला विद्यालयों की स्थापना का मूल उद्देश्य भारतीय कलाकार तैयार करना नहीं, बल्कि यूरोपीय बाजारों के लिए डिजाइन, कारीगरी और दृश्य सामग्री का उत्पादन था। परिणामत: इस शिक्षा प्रणाली में भारतीय कला परंपराओं को या तो 'क्राफ्ट' कहकर हाशिये पर रखा गया या फिर उन्हें आधुनिकता–विरोधी मानते हुए पाठ्यक्रम से बाहर कर दिया गया।

सुमन कुमार सिंह
कलाकार/कला लेखक

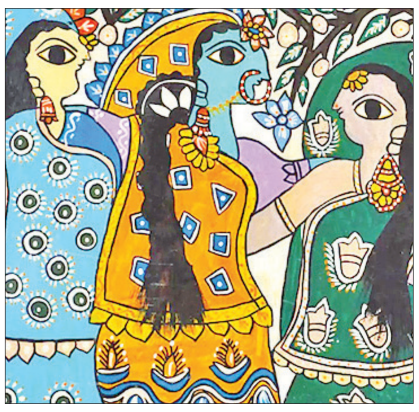

आश्चर्य की बात यह है कि स्वतंत्रता के सात दशक बाद भी कला शिक्षा के इस ढांचे में कोई बुनियादी वैचारिक पुनर्गठन नहीं हुआ। भारतीय कला इतिहास, जो सिंधु घाटी, मौर्य, गुप्त, मध्यकालीन, लोक, जनजातीय और शिल्प परंपराओं के माध्यम से हजारों वर्षों में विकसित हुआ। आज भी कला महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में केंद्रीय ज्ञान-स्रोत के रूप में स्थापित नहीं हो पाया है। लोक और पारंपरिक कलाएं अधिकतर वैकल्पिक, गौण या "फोक स्टडी" तक सीमित हैं, न कि समकालीन अभ्यास के सक्रिय स्रोत के रूप में।

इसी पृष्ठभूमि में समकालीन भारतीय कला जगत में एक विरोधाभासी स्थिति उभरती है। हाल के वर्षों में अनेक ख्यात और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय कलाकार अपनी कृतियों में भारतीय शिल्प, लोक कला, आदिवासी प्रतीकों और पारंपरिक तकनीकों का खुलकर उपयोग कर रहे हैं। विशेष रूप से विदेशी प्रदर्शनियों और बिएनाले संदर्भों में यह रुझान अधिक दिखाई देता है, जहां तथाकथित "इंडियननेस" (भारतीयता) एक सांस्कृतिक पूंजी के रूप में काम करती है। यहां भारतीय शैली के वस्त्र, कढ़ाई, गोंड, मिथिला, वारली या टेराकोटा जैसे दृश्य संकेत वैश्विक कला बाज़ार में विशेष पहचान और विशिष्टता प्रदान करते हैं।

ऐसे में एक सवाल यह भी आता है कि क्या इसे चोरी कहा जा सकता है? स्पष्ट है कि यदि चोरी से आशय शैली, प्रतीक और रूपों के उपयोग मात्र से है, तो कला इतिहास बताता है कि कोई भी कला परंपरा कभी भी पूर्णतः स्वायत्त नहीं होती। ऐसे में आधुनिक कला भी उधार, रूपांतरण और पुनर्संयोजन की प्रक्रिया से उत्पन्न अवधारणा या व्याख्या है। इस अर्थ में, केवल लोक रूपों के उपयोग को चोरी नहीं कहा जा सकता, लेकिन समस्या तब शुरू होती है, जब यह उपयोग समान शक्ति-संबंधों के भीतर नहीं होता, बल्कि एक अभिजात्य, शहरी और संस्थागत कलाकार लोक या आदिवासी कला के दृश्य संसार को अपनाता है, लेकिन उन समुदायों को श्रेय नहीं देता, उनकी ऐतिहासिक, सामाजिक या आर्थिक स्थितियों से कोई संवाद नहीं करता और न ही उनके ज्ञान को समकालीन कला शिक्षा में स्थान दिलाने की कोशिश करता है, तो ऐसे में यह प्रक्रिया सांस्कृतिक उपभोग का रूप ले लेती है। इस हालात में लोक कला या प्रतीक प्रेरणा नहीं, बल्कि कच्चा माल बन जाती है।

इस संदर्भ में इस धारणा को आंशिक रूप से सही कहा जा सकता है, कि अभिजात्य कला समाज लोक कलाओं से चोरी कर रहा है, क्योंकि समस्या "उधार लेने" या प्रभावित होने में नहीं, बल्कि उस संस्थागत पाखंड में है। जहां एक ओर कला महाविद्यालयों और कला संकायों में लोक कलाओं को अकादमिक ज्ञान नहीं माना जाता, वहीं दूसरी ओर समाज में सदियों से प्रचलित लोक दृश्यता समकालीन कला की प्रतिष्ठा और कला बाजार का आधार बन जाती है। जाहिर है, ऐसे में यह असंतुलन लोक परंपराओं के प्रति एक संरचनात्मक अन्याय को उजागर करता है, जिसकी जड़ों में रचा बसा होता है अभिजात्य समाज का पाखंड।

वैसे यह कहना कि सभी अभिजात्य कलाकार "चोरी" कर रहे हैं या करते हैं, महज सरलीकरण होगा, किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि जब तक भारतीय कला शिक्षा अपने केंद्र में भारतीय कला परंपरा को पुनः स्थापित नहीं करती, तब तक लोक और शिल्प कलाओं का यह उपयोग नैतिक और वैचारिक सवालों से घिरा रहेगा। आवश्यकता है संरचनात्मक सुधार, न कि केवल शैलीगत समावेशन की। इस पूरे विमर्श का निष्पक्ष आकलन करते हुए यह स्वीकार करना आवश्यक है कि समकालीन भारतीय कला में लोक और पारंपरिक कलाओं का उपयोग न तो स्वभावतः गलत है और न ही स्वतः शोषणकारी। कला का इतिहास परस्पर ग्रहण, रूपांतरण और संवाद से ही निर्मित हुआ है। समस्या वहां उत्पन्न होती है, जहां यह ग्रहण असमान शक्ति-संरचना के भीतर होता है और संस्थागत स्तर पर लोक कलाओं को समान वैचारिक दर्जा नहीं मिलता। यदि कोई समकालीन कलाकार लोक या शिल्प परंपराओं से प्रेरणा लेते हुए उनके ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों के साथ ईमानदार संवाद करता है, श्रेय और सहभागिता सुनिश्चित करता है, तो यह प्रक्रिया रचनात्मक और नैतिक कही जा सकती है। किंतु जब वही तत्व केवल वैश्विक दृश्यता या बाजार की मांग के लिए अपनाए जाते हैं, तब यह सांस्कृतिक उपभोग का रूप ले लेती है। ऐसे में आज सबसे आवश्यक कदम कला शिक्षा के पाठ्यक्रम मं संरचनात्मक सुधार होना चाहिए। साथ ही भारतीय लोक, जनजातीय और शिल्प परंपराओं को केवल सैद्धांतिक अध्ययन का विषय भर नहीं, बल्कि समकालीन अभ्यास के सक्रिय स्रोत के रूप में अपनाया जाना चाहिए। साथ ही कलाकारों और कला संस्थानों को भी लोक समुदायों के साथ दीर्घकालिक, समानतापूर्ण सहयोग की दिशा में बढ़ना होगा। तभी सदियों से जारी यह अंतर्विरोध रचनात्मक संवाद में बदल पाएगा।